युगसेतु

वर्ष : 1 अंक : 11 अप्रैल, 2012

संपादक
ओम प्रकाश शर्मा

संपादकीय सहयोग
उमेश प्रसाद सिंह
राजू कुमार
रमेश नारायण

विज्ञापन प्रबंधक
अमरेश कुमार पाण्डेय

प्रचार/प्रसार
नरेन्द्र कुमार सिंह

कार्यालय
जी-21, प्रथम तल, लक्ष्मी नगर,
दिल्ली-110092
दूरभाष-011-22040692

संपर्क
एन-33, भूतल, लक्ष्मी नगर,
दिल्ली-110092
दूरभाष-9013379808, 9650914297
वेब साइटः www.yugsetu.com
ई.मेल : yugsetu@gmail.com

स्वामी, प्रकाशक, मुद्रक और संपादक डॉ. ओम प्रकाश शर्मा द्वारा, जी 21, लक्ष्मी नगर, दिल्ली-92 से प्रकाशित एवं एना प्रिंट ओ ग्राफिक्स प्रा. लि. 347 के, उद्योग केन्द्र एक्सटेंशन II, सेक्टर-ईकोटेक-III, ग्रेटर नोएडा, गौतम बुद्ध नगर, उ.प्र. से मुद्रित।

इस माह

लोकमंच		4
संपादकीय		6
सौन्दर्य की अनुभूति आनंददायक होती है	मृदुला सिन्हा	10
कि नीरज गा रहा है	विजय बहादुर सिंह	12
सौन्दर्य : कला की आत्मा	रामगोपाल शर्मा 'दिनेश'	16
संकेत करतीं कोंपलें मंजरियाँ	शशिकांत सुशांत	18
सौन्दर्य की उपयोगिता	रामविलास शर्मा	20
कैसे होती है कला की सौन्दर्यानुभूति	रघुनंदन प्रसाद तिवारी	26
धर्म का मूल है उत्तम सौन्दर्य बोध	शाहिद रहीम	27
हिन्दी काव्य परंपरा में नारी सौन्दर्य	उमेश कुमार	28
सौन्दर्य में ऊर्जा का प्रवाह है	गीता सिंह	30
उपयोगी हैं सौन्दर्य मूल्य	रामशरण गौड़	31
सौन्दर्य किसे नहीं भाता	विनीता सिन्हा	33
पंत की सौन्दर्य चेतना का विकास	सुधांशु चतुर्वेदी	35
कविताएँ	दिनकर/मधुर	37
लोहिया की दृष्टि परिवर्तन की दिशा	नरेन्द्र परिहार	38
लोक कविताओं बाबू कुँवर सिंह	उमेश प्रसाद सिंह	39
कहानी 'सौदा'	चित्रा मुद्गल	41
क्या नरेन्द्र मोदी नाराज हैं	कंचन माला	46
कथक चतुष्ट्य में जलवा	शशिप्रभा तिवारी	48
विविध		50

कुल पृष्ठ आवरण सहित 52

युग सेतु में लेखकों के प्रकाशित आलेखों के विचारों से संपादक या प्रकाशक का सहमत होना आवश्यक नहीं है। किसी भी विवाद का निबटारा दिल्ली न्यायालय में होगा।

लोक मंच

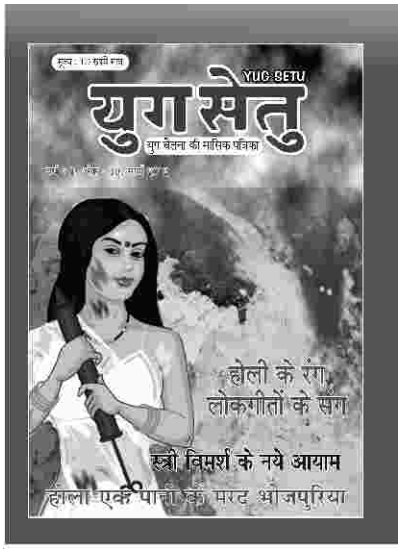

'पूरकता पर आधारित है संपूर्ण सृष्टि' में लेखिका ने दाम्पत्य की तुलना दलहन से करते हुए उसके स्त्री व पुरुष रूपी दो दलों के ऊपर के आवरण को दाम्पत्य कहा है जो बहुत ही युक्तियुक्त है। कितना सार्थक है यह कथन कि इस दाम्पत्य के आवरण में स्त्री-पुरुष की उपस्थिति ही बीज के अंकुरण का कारण बनती है, सृष्टि का आधार बनती है। इस आवरण को उतारने से सृष्टि की संरचना-प्रक्रिया न केवल छिन्न-भिन्न होगी, अपितु उसका संचालन भी मुश्किल होगा। जरूरत है इन दोनों को परस्पर अधिकतम पूरक बनाने की। पूरक बनाना समानता स्थापित करना नहीं है, अपितु दोनों की विशिष्टताओं को बनाए रखते हुए एक दूसरे के प्रति अधिकतम हितैषी बनाना है। तभी विश्व समाज का समुचित विकास होगा। यही पूरकता वाली स्थिति प्रकृति और पूरी सृष्टि के प्रति होनी चाहिए।

जयवीर सिंह, भटियाना,
बिजनौर, उ.प्र.

'स्त्री विमर्श : प्रतिशोध नहीं, प्रतिरोध है', में रमेश दिविक ने बहुत ही सार्थक प्रश्न उठाया है कि 'जैसे स्त्री पैदा नहीं होती, बल्कि बनाई जाती है, ठीक उसी प्रकार पुरुष भी पैदा नहीं होता, बनाया जाता है।' नारीवाद के चलन के साथ पहले पश्चिम में और बाद में भारत में इसकी पहली अर्द्धाली बौद्धिक जगत में उद्धृत की जाने वाली अनिवार्य उक्ति बन गई और स्त्री विमर्श के प्रस्थान का बिन्दु भी। यह प्रश्न उठना भी स्वाभाविक है कि स्त्री भी वैसी ही क्यों हो, जैसा पुरुष चाहता है? इसी से मिलता-जुलता दूसरा प्रश्न यह है कि पुरुष भी वैसा ही क्यों हो, जैसा स्त्री चाहती है। क्या स्त्री अपने बारे में या पुरुष के बारे में सब कुछ ठीक-ठीक ही चाहती है, अथवा पुरुष स्त्री के बारे में या स्वयं अपने बारे में सदैव ठीक-ठीक ही चाहता है। वस्तुतः ऐसे प्रश्न विमर्शों से परे जाकर सोचने के हैं, तभी इनका उचित समाधान सुलभ होगा।

लिंग के आधार पर मात्र दो वर्ग स्त्री-पुरुष बना देने से समस्याओं की तह तक जाने का रास्ता तो मिल सकता है, लेकिन समस्याएँ और भी हैं, जो स्त्री-पुरुष के लैंगिक स्तर से जुड़ी हुई तो हैं, पर उनका समाधान सिर्फ लैंगिक सोच से संभव नहीं है। आधी आबादी की स्त्रियों की समस्या न एक जैसी है और न पुरुष की आधी आबादी की एक जैसी। आखिर यह कैसे संभव है कि अरबों की आबादी में दो वर्ग बना दिए जाएँ। कभी बराबर संख्याओं का गणित से बाहर कोई वर्ग नहीं बनता और बनता है तो उसके भीतर ही कई उपवर्ग बन जाते हैं जो अपने समकक्षी बाहरी प्रतिद्वंद्वी वर्गों से अधिक, आपस में ही टकराते दिखाई देते हैं। फिर भी स्त्री-पुरुष का एक अलग-अलग वर्ग तो है ही, जो अन्य किसी भी स्तर के विभाजन से ज्यादा सुस्पष्ट और महत्त्वपूर्ण है, साथ ही उतना ही एक-दूसरे पर निर्भर भी। अतः अन्य वर्गीय संघर्षों की तरह इसे नहीं सुलझाया जा सकता।

पिंकी, मुजफ्फरपुर, बिहार

आजकल भोजपुरी का जो रूप सिनेमा और गानों में देखने को मिलता है, वह बहुत ही भौंडा, अश्लील और कामोत्तेजक है। इससे भोजपुरी भाषा और संस्कृति का विकृत और भद्दा रूप सामने आ रहा है। हिन्दी और यहाँ तक कि हॉलीवुड फिल्मों में जो खुलापन या अश्लीलता है, वह तो फिर भी आकर्षण पैदा करती है, जबकि भोजपुरी सिनेमा और गीतों की अश्लील हरकतें, संवाद और गाने एक वितृष्णा उत्पन्न करते हैं। भोजपुरी की असली पहचान से ये काफी दूर हैं। इससे भोजपुरी का प्रचार-प्रसार क्या होगा, उसका अवमूल्यन ही होना है। कहाँ है वह करुणा और माधुर्य मिश्रित ओजस्विता, जो भोजपुरी भाषा और जन-संस्कृति का प्रमुख विशेषता है? वस्तुतः किसी भाषा के विकास को मापने के लिए जिन चलताऊ मानदंडों की कसौटी तैयार की जाती है, उसी के कारण कई बार भाषा एवं संस्कृति का विकास नहीं हो पाता है। कहीं कार्यक्रमों पर पैसे बहाए जा रहे हैं, तो कहीं उसके गानों पर ठुमके लगाए जा रहे हैं, कहीं इसे आठवीं अनुसूची में शामिल करने की माँग, कोशिश हो रही है, कहीं अलग प्रदेश बनाने का संघर्ष हो रहा है और कहीं अकादमी स्थापित कर कुछ एक कार्यक्रमों पर पैसे खर्च कर

देने से इसका विकास मान लिया जाता है। अगर ये ठीक ढंग से हों तो इनका कुछ महत्त्व है, लेकिन भाषा, साहित्य और संस्कृति की उन्नति इससे बहुत आगे की चीज है, जिसके लिए भाषा-भाषियों को चिंतित होना ही चाहिए।

रंजन कुमार, मंडावली, दिल्ली

प्रेम अंक में यह टिप्पणी चुभने वाली थी कि 'तय शादियों के होते भारत प्रेम की संभावना से वंचित है और पश्चिम मुक्त सेक्स के चलते प्रेम से वंचित रहेगा।' तय शादियों और मुक्त काम- दोनों ही स्थितियों में आदमी किस 'प्रेम' से वंचित है, विचारणीय है। कुछ समझ में नहीं आ रहा कि मनुष्य विवाह में या मुक्त काम में क्या खोज रहा है, जो उसे नहीं मिल रहा। 'कालिदास का प्रेम निरीक्षण' आलेख पढ़ते हुए भी दिखा कि एक स्त्री और पुरुष के विवाहित हो जाने पर वहाँ प्रेम या रति के लिए कोई स्थान नहीं है। यद्यपि ऐसा विचार आधुनिक भावबोध का कहा जा सकता है, तथापि शताब्दियों पूर्व कालिदास ने ऐसा ही आधुनिक विचार व्यक्त किया है। शायद ऐसा इसलिए है क्योंकि प्रेम-काम की फलापूर्ति विवाह हो जाने मात्र से नहीं होती और न ही इससे इतर भटकने से होती है। कालिदास का यह विचार भी आधुनिक है कि नायक या नायिका में से केवल एक का प्रेम, प्रेम नहीं हो सकता। दोनों तरफ से प्रेम होने पर यदि परस्पर समागम नहीं भी होता और दोनों मर भी जाएँ- तब भी उनका प्रेम सच्चा प्रेम ही माना जाएगा।

कालिदास के मत में नायिका यानी नारी का प्रेम सुदृढ़ होता है और नायक का प्रेम उतना दृढ़ नहीं होता है। एक पतिव्रत रखने वाली स्त्रियाँ अधिक हैं, एक पत्नीव्रत रखने वाले पुरुष कम हैं। रामधारी सिंह दिनकर का भी यह विचार है कि इस समाज में ऐसे शुद्ध-पवित्र पुरुष-स्त्री कम हैं, अतः जो ऐसे दिखें, उन्हें चलता-फिरता देवता ही मान लेना चाहिए। यही तो दुष्यंत और शकुन्तला के प्रेम से दर्शाया गया है कि काम-विकार से समागम भूमि पर हुआ, जबकि दिव्य प्रेम से समागम देवभूमि में हुआ। इस प्रकार लगता है कि जिन विचारों को हम आज आधुनिक कहकर अपनाते हैं, उनकी जड़ें अतीत में पड़ी होती हैं और जिन्हें प्राचीन कहकर छोड़ते हैं, वे नए रूप-कलेवर में वर्तमान में विद्यमान रहती हैं। स्वयं कालिदास भी यही मानते हैं कि न तो पुराना होने मात्र से कोई चीज त्याज्य हो जाती है और न नए होने मात्र से अपनाने योग्य हो जाती है।

प्रभात कुमार, दिल्ली कैंट, दिल्ली

पिछले दिनों प्रेस परिषद् के अध्यक्ष मार्कण्डेय काटजू ने बिहार जाकर बयान दे दिया कि बिहार में प्रेस आजाद नहीं है। यह बहुत तीखा और अलोकतांत्रिक बयान था। फलतः इस पर हंगामा होना ही था, सो खूब हुआ। बिहार विधानसभा में भी हंगामा हुआ। विपक्षी दलों को नीतीश सरकार पर हमला बोलने का अच्छा मौका मिल गया। राम विलास पासवान ने दिल्ली में इसी मुद्दे पर बिहार की नीतीश सरकार के खिलाफ प्रदर्शन किया। प्रेस आजाद नहीं है, यह ऐसा बयान है जिसका मतलब बहुत कुछ होता है। क्या वहाँ आपात स्थिति है? जाहिर है न तो आपात स्थिति है और न प्रेस पर प्रतिबंध है, तो फिर क्या है? वही है, जिसकी चर्चा बरसों से हो रही है, पेड न्यूज का जमाना है। पैसे देकर खबरें छपवाने वाले तैयार हैं तो छापने वाले भी तैयार हैं। इसमें प्रेस की आजादी पर खतरा कहाँ है? यह नए ढंग की आजादी है, पैसे लेने-देने और खबरें छापने-छपवाने की। इसमें सरकार ही दोषी क्यों? दोषी तो छापने वाले भी हैं। यदि उन्होंने अपनी 'जगह' गिरवी रखना कबूल किया है, तभी तो कोई गिरवी रख रहा है। तर्क यह है कि व्यवसाय चलाना है तो यह सब करना पड़ रहा है, दूसरी तरफ यही तर्क कि राजनीति करनी है तो प्रेस को मिलाकर रखना है और मिलाकर रखने के लिए पेड-न्यूज का सहारा लेना जरूरी है?

इस नए व्यावहारिक नजरिए के साथ जो नहीं चलेगा, उसका खबरिया कारोबार बंद हो जाएगा और राजनीति चौपट हो जाएगी। इसलिए यह सब फल-फूल रहा है। बिहार सरकार ने यदि इस दिशा में कदम बढ़ाए हैं और किसी रूप में प्रेस से 'सहयोगी-मित्रवत' संबंध बनाए हैं, ताकि उसके खिलाफ खबरें कम छपें, तो इसके लिए उसके 'मीडिया प्रबंधन' को दाद देनी चाहिए और यह भी उसकी लोकप्रियता का एक रूप ही है? फिर भी बिहार में प्रेस आजाद नहीं है इस वक्तव्य से सहमत होना मुश्किल है।

अविराम सिंह, छपरा, बिहार

सलमान रुश्दी को भारत न आने देने की माँग करना सरासर अनुचित है। जहाँ तक इस्लाम के बारे में उनके विचारों का सवाल है, उससे असहमति रखना बुरा नहीं है, लेकिन यह मानना रुश्दी को अधिक ताकतवर बताना है कि उनके लेखन से कोई खतरा है। धर्म चाहे कोई भी हो, ईश्वर की सत्ता हमारे मानने न मानने पर नहीं टिकी है, वह तो सदैव अक्षुण्ण है। वस्तुतः रुश्दी के विरोध करने वाले मुस्लमानों का कोई हित नहीं कर रहे। धर्म और धार्मिकों के लिए उनका समर्थन भी उतना ही कम प्रभावकारी है, जितना रुश्दी का विरोध। ऐसे तत्त्वों के समर्थन विरोध से न धर्म का भला होता है और न बुरा। यह जरूर है कि इससे कमोबेश धार्मिक भावनाओं को ठेस पहुँचती है। अतः ऐसे विवादों से बचना चाहिए।

मो. इरफान, सीवान, बिहार

पाठकगण

पत्रिका के संबंध में किसी भी तरह के सुझाव, विचार, प्रतिक्रिया आदि दूरभाष और ईमेल आईडी पर भी भेज सकते हैं।

संपादक

सत्यांश

सौन्दर्य कहाँ नहीं है और कहाँ है? अर्थात् सब जगह है और कहीं नहीं है। यह विचार विचित्र लगता है, पर यही सच है, क्योंकि सौन्दर्य के लिए पूर्णता और सामंजस्य महत्त्वपूर्ण हैं; परंतु पूर्णता कहीं नहीं है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि अंशतः तो सौन्दर्य सर्वत्र है, पर पूर्णतः कहीं नहीं। जहाँ सौन्दर्य पूर्ण रूप में नहीं है, वहाँ असुंदरता एक छोटे-बड़े हिस्से में अवश्य रहती है, परंतु असुन्दरता भी पूर्ण रूप से कहीं नहीं मिलेगी, इसलिए चर-अचर प्रत्येक वस्तु को सुंदर कहा गया है, सौन्दर्य की सत्ता सर्वत्र बतायी गई है। अतः प्रत्येक वस्तु सुंदर भी है और असुंदर भी। कहीं किसी बात की सुंदरता है तो कहीं किसी बात की असुन्दरता। कहीं सौन्दर्य की मात्रा अधिक है तो कहीं असुंदरता की मात्रा ज्यादा। इसीलिए ईश्वर को ही एक मात्र पूर्णता में परम सत्य, परम सुंदर, शाश्वत और सार्वभौम माना जाता है। जिन भाव-विचारों यथा सत्य, ज्ञान, प्रेम, कर्म आदि की विशेषताएँ शाश्वतता-सार्वभौमिकता और सुंदरता बताई गई हैं, उनमें भी ईश्वर की सत्ता दर्शायी गई है, यानी ईश्वर ही पूर्ण है, बाकी सब अपूर्ण। लेकिन इस ईश्वर के प्रति भी धार्मिक-सांप्रदायिक जो दृष्टिकोण है, उसमें दूसरे धर्म-संप्रदाय वाले अपने से इतर के धर्मवाले ईश्वर की सौन्दर्य पूर्णता पर प्रश्न चिन्ह लगाते हैं। जो किसी रूप में नास्तिक हैं, उनकी तो खैर बात ही और है।

जैसे सौन्दर्य को सार्वभौम, शाश्वत और अखण्ड्य माना गया है, वैसे ही असुंदरता का प्रवाह अविरल, अविराम और कालातीत है। यदि संसार की प्रत्येक वस्तु खूबसूरत है तो प्रत्येक वस्तु इसी मानदंड से असुंदर भी होगी। सुन्दरता तथा असुंदरता दोनों एक दूसरे के समकक्ष ही अस्तित्व में रह सकते हैं। इसलिए सुन्दरता-असुन्दरता दोनों का प्रवाह अखण्ड्य और अप्रतिहत रहा है, लेकिन स्थापनाएँ हमेशा सकारात्मक मूल्यों की होती हैं, चाहे व्यवहार-आचरण नकारात्मक मूल्यों वाला सौन्दर्यहीन-असुंदर ही क्यों न अधिक हो। इसलिए जब यह उदात्त विचार व्यक्त किया गया कि सब कुछ सुंदर है, तो उसके साथ यह नहीं कहा गया कि संसार की प्रत्येक वस्तु असुंदर भी है अथवा असुंदर ही है। परंतु मूल प्रश्न यह है कि सौन्दर्य-सुंदरता और असुन्दरता आखिर है क्या? किन निकषों पर हम किसी व्यक्ति, वस्तु या विचार को सुंदर-असुंदर कहते हैं? इस प्रकार देखने से यह मालूम पड़ता है कि जो अच्छा है, वह सुंदर लगता है और जो बुरा है, वह असुंदर लगता है। सदैव ऐसा ही होता है, कहना नासमझी होगा। आदत-स्वभाव के अनुरूप बुरी चीजें अच्छी लगती ही हैं।

किसी भी सत्ता या अवधारणा में जहाँ 'हित' दिखता है, वहाँ सौन्दर्य की सृष्टि होती है। हालाँकि हित के साथ सौन्दर्य देखना द्रष्टा की किन्हीं रूपों में स्वार्थ भावना का संकेत देता है और देखी जाने वाली वस्तु के सौन्दर्य की सत्ता पर प्रश्न-चिन्ह लगाता है। यदि सौन्दर्य दृश्य वस्तु में है तो वह दिखना ही चाहिए, फिर 'हित' या 'सर्वहित' की बात कहाँ से आ गई? भारतीय और पाश्चात्य शास्त्र-ग्रंथ भी यही बताते हैं कि सौन्दर्य निष्प्रयोजन, निष्काम अर्थात् हित-अहित और स्वार्थ भावना से सर्वथा मुक्त होने पर ही अपनी पूर्णानुभूति करा पाता है। इसकी सत्ता व्यक्तिगत नहीं, सार्वभौम और अक्षुण्ण है। सुख-दुख, लाभ-हानि, प्रियता-अप्रियता से परे स्थितप्रज्ञ साक्षी दृष्टि से सौन्दर्य-पान सर्वोपरि है। परंतु जहाँ ऐसी उदात्त साक्षी दृष्टि होगी, वहाँ सौन्दर्य-सुन्दरता और असुन्दरता का कोई मूल्य नहीं रह जाएगा। द्रष्टा और उसकी दृष्टि सर्वोच्च होगी। हर वस्तु-व्यक्ति में तटस्थ रूप से सौन्दर्य ही दिखेगा, चाहे वह दुनियावी कसौटी पर असुंदर ही क्यों न हो। परंतु ऐसे द्रष्टा व दृष्टि का उदाहरण संसार में अपवादस्वरूप भी मिलना मुश्किल है। इसी समस्या के समाधान हेतु सौन्दर्य-बोध को व्यावहारिक दृष्टि से सर्वदा सर्वथा भिन्न कह दिया गया है। परंतु ऐसी दृष्टि का क्या लाभ, जो नैसर्गिक व्यवहार और अकृत्रिम स्वभाव की परिणति तक न पहुँच सके?

जहाँ 'हित' दिखता है, वहीं सौन्दर्य-बोध पनपता है, यही यथार्थ है। क्या इसे उलट कर कहा जा सकता है कि जहाँ सौन्दर्य है, वहाँ हित उपलब्ध रहता ही है? विद्वानों ने यही सिद्ध करने का प्रयास किया है कि सुंदर वस्तु प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में सुखद अवश्य होती है, किंतु प्रत्येक सुखकारी वस्तु सुंदर नहीं होती। उत्तम स्थिति भी यही मानी जा सकती है कि जहाँ सौन्दर्य हो, वहाँ सूक्ष्म-स्थूल, प्रत्यक्षतः-अप्रत्यक्षतः कुछ-न-कुछ 'हित-साधन' हो ही जाए। यदि ऐसा नहीं तो सौन्दर्य किस काम का, काहे का? जहाँ वास्तव में या भुलावे में भी कुछ 'हित' या 'कल्याण' या 'मंगल' हो जाता है, वहाँ आदमी सौन्दर्य देख ही लेता है। ऐसी स्वार्थ भावना वाली कार्य-दृष्टि कई बार अनिष्टकारी भी

साबित होती है और अंततः आत्मिक अहित भी कर देती है। आज की दुनिया का सारा कार्य-व्यापार इसी रूप में चल रहा है, जहाँ सतही लाभ के चक्कर में आदमी अपना व्यापक अहित कर रहा है। वर्तमान का जीवन व्यवहार इसी धुरी पर चल रहा है, इससे संभवतः कोई परे नहीं...।

जैसा कि हमने देखा कि जहाँ अपना हित-साधन न हो, वहाँ सौन्दर्यानुभूति मुश्किल होती है। जन-सामान्य के जीवन की सच्चाई यही है और बुद्धिजीवी विद्वानों की भी। व्यक्ति, वस्तु या विचार को या तो सापेक्षता अथवा अपनी अपेक्षाओं के अनुरूप देखा जाता है या फिर नकारात्मक रूप में। सामान्यतः निरपेक्ष भाव से नहीं देखा जाता और सापेक्षता-निरपेक्षता से ऊपर उठकर देखने की दृष्टि कहाँ उपलब्ध है? इसीलिए कहीं किसी को सौन्दर्य दिखता है, तो उसी में किसी को असुंदरता दिखाई देती है। वस्तु या विचार एक ही है, पर द्रष्टा-दृष्टि संस्कार के कारण उसका रूप अलग-अलग और विपरीत भी लगता है। यहाँ दृष्टि प्रधान हो जाती है और एक का औचित्य दूसरे के लिए अनौचित्य साबित होता है। तुलसी की क्षेपक पंक्ति 'पूजहूँ ब्राह्मण गुणशील हीना, शूद्र न गुण गन ग्यान प्रवीना' को पढ़ते हुए एक दलित को वहीं सौन्दर्य बोध नहीं मिलता जो गैर दलितों को मिलता है। मार्क्सवादी या दलित या स्त्री सौन्दर्यशास्त्र में मार्क्सवादियों, दलितों, स्त्रियों का जो सौंदर्यबोध है, वही गैर-मार्क्सवादियों, गैर-दलितों, गैर-स्त्रियों को उपलब्ध नहीं होता। धार्मिक ग्रंथ जितना आस्थावानों को आनन्दानुभूत करते हैं, उतना नास्तिकों को नहीं। वस्तु एक ही है, पर दृष्टि और संस्कार के कारण धारक की सौन्दर्यानुभूति पृथक्-पृथक है।

यदि यह मान भी लिया जाए कि सौन्दर्य या सुन्दरता सार्वभौम है और जो वास्तव में सुंदर है, वह सब के लिए सुंदर होता है, तब भी इस बात को पूर्णतः मान लेना असंभव है कि सौन्दर्य सदैव सुखद ही होता है। चाहे संस्कार, विचार, व्यवहार कितने ही निरपेक्ष, तटस्थ और स्वार्थ कामना से रहित ही क्यों हों। अगर आपकी ओर से नहीं, तो सामने के सौन्दर्य वाली वस्तुओं, भावनाओं, व्यक्तियों की सापेक्षता आपके प्रति होती है, अपेक्षाएँ और कुछ माँगें होती हैं और वहाँ निरपेक्षता-तटस्थता एक दोष सिद्ध होगी, सौन्दयानुभूति में बाधक होगी, क्योंकि जैसे द्रष्टा दृश्य है, वैसे ही दृश्य भी द्रष्टा है और उसके सौन्दर्य-दर्शन की अपनी अपेक्षाएँ हैं जो प्रत्यक्षतः-परोक्षतः आपसे भी हैं, हर देखने वालों से हैं। जैसे आप हित चाहते हैं, वैसे ही वे चाहे अचर ही हों, अपना सौन्दर्य-हित तो स्थूलतः-सूक्ष्मतः चाहते ही हैं और यहीं आपकी कुछ जिम्मेवारी बन जाती है, उस द्रष्टा के प्रति जो आपको देख रहा है और जिसे आप देख रहे हैं।

'सुंदर' सदैव सुखद नहीं होता, अहितकर भी होता है। सुंदर चीजों का अहित असुंदर चीजों के अहित से अधिक मारक और हृदय-विदारक होता है। यह ऐसे ही होगा जैसे बारिस में नहाकर लुफ्त उठाते व्यक्ति पर अचानक बिजली गिर जाए या पेड़ की शीतल छाँव में मंद-मंद वायु के झोकों से रससिक्त आदमी को लू की लहर लग जाए। ऐसा होता ही रहता है। शत्रु की शत्रुता से मित्र की शत्रुता अधिक घातक-मारक होती है।

जरा सोचें कि महाभारत काल में द्रौपदी के स्वयंवर में कितने राजा-महाराजा आए थे। क्यों आए थे? इसलिए आए थे, क्योंकि सब द्रौपदी के अनुपम सौन्दर्य से परिचित थे और उस पर मुग्ध थे। परंतु कोई लक्ष्य-भेद के लिए निर्धारित मछली की आँख में निशाना न लगा पाया। ऐसी स्थिति में द्रौपदी सहित सब लोग बेहद निराशा में थे, तभी दानवीर कर्ण आगे बढ़ा। उसे अचूक निशाना लगाते देख कर कृष्ण के इशारे पर द्रौपदी ने 'मैं शूद्र पुत्र का वरण नहीं करूँगी', कहकर उसे रोका और भरी सभा में अपमानित किया। द्रौपदी ने ऐसी कटूक्ति का प्रयोग तब किया, जब स्वयंवर में वर मिलने की संभावना अति क्षीण दिखाई दे रही थी। कर्ण को शूद्र पुत्र मान लिया गया था, पर उसके सौन्दर्य, रूप-गुण और पराक्रम से सब भलीभाँति परिचित थे। इसीलिए उसके शूद्र होने पर अविश्वास भी करते थे। इस 'अविश्वास' से जातीय अहं की तुष्टि हो जाती थी और शूद्र होने पर 'विश्वास' भी करते थे, क्योंकि इससे कर्ण के व्यक्तित्व वाले सौन्दर्य को नकार कर उसे उपेक्षित-अवहेलित करने का बढ़िया मौका मिल जाता था। द्रौपदी की लावण्यमयी सुंदरता के भीतर से निकले उक्त दुर्वचन का कर्ण पर क्या प्रभाव पड़ा? तब भी क्या द्रौपदी कर्ण के लिए उतनी ही 'सुंदर' लगती रही होगी, जितनी पहले थी?

कर्ण उन महारथियों में से नहीं था, जो द्रौपदी के रूप-गुण से मोहित होकर लार टपकाते फिरते थे। उसे प्राप्त करने के लिए छल-छद्म सहित अनेक घृणित-अनैतिक तरीके अपनाए। अपनी बेइज्जती कराई और अपनी जान से हाथ धो बैठे। दुर्योधन, जयद्रथ और कीचक ऐसे ही महावीर थे। कर्ण ने द्रौपदी को प्राप्त करने का जो प्रयास किया था, वह बिल्कुल नैतिक था और ज्यादा सही यह है कि वह आपद्धर्म का निर्वाह ही अधिक था। इसे सूक्ष्मता से देखा जाए तो सौन्दर्य बोध की कई परतें उघड़ती हैं, जहाँ सौन्दर्य के शास्त्रीय-किताबी गुणगान से अधिक व्यावहारिक दृष्टि पनपती है। उसके बाद से द्रौपदी कर्ण के लिए सौन्दर्याभिमानिनी हो गई। मौका मिलते ही कर्ण ने भी अपनी पूरी टीस उड़ेल दी, 'जिस स्त्री के पाँच-पाँच पति हों, वह वेश्या सदृश है, उसका मान क्या, अपमान क्या? भरी सभा में उसे नग्न भी नचाया जाए, तब भी उसका अपमान नहीं होगा।' कर्ण और द्रौपदी दोनों ही अद्भुत व्यक्तित्व के थे और इस रूप में अप्रतिम

सौन्दर्यशाली भी, फिर भी दोनों का सौन्दर्य एक-दूसरे को आकर्षित करने की बजाय विपरीत प्रभाव डाल गया। यह प्रश्न लाजिमी है कि यहाँ किसके सौन्दर्य में कहाँ खोंट था कि ऐसा हुआ। सौन्दर्य सुखद क्यों नहीं रहा? इसलिए क्योंकि सौन्दर्य की पूर्णता नहीं थी। व्यक्तित्व, शारीरिक सौष्ठव, मानसिकता, दिव्यता और पराक्रम के भीतर कुछ असुंदर चीज थी, जो पूरे सौन्दर्य की आभा को फीका कर गई। वाणी की असुंदरता ने ऐसी स्थिति पैदा की जो विशुद्ध सार्वजनिक थी, नितांत निजी को सार्वजनिक बनाने का कुप्रचारित प्रयास यह न था। यह कहने और सुनने के लिए ही कही गई थी। इसीलिए किसी का वैभव, संपत्ति, पद, राजनीति, संस्कृति, धर्म जब हमारा अहित करते हैं तो उनमें सौन्दर्य देखना मुश्किल होता है। भ्रष्टाचार, अपराध, चोरी, दुष्टता आदि की तो बात ही अलग है। हालाँकि इनमें भी सौन्दर्यानुभूत होने वाले होते हैं, तभी तो ऐसा करते हैं। भ्रष्टाचारी को अपने भ्रष्ट आचरण से जो धन-काम सुख मिलता है, बलात्कारी को जो कामना-तृप्ति होती है, वहाँ भी वह सौन्दर्य देखता है, उसे किसी रूप में अपने काम को अंजाम देने में 'कर्म का सौन्दर्य' उपलब्ध होता है। समाज में यह परम्परा प्रायः हर जगह हर स्तर पर विद्यमान है। यही सौन्दर्य के साथ सबसे बड़ा भितरघात भी है।

चूँकि सौन्दर्य सर्वत्र है, इसलिए ज्ञान परम्परा और लोक परम्परा में सामान्यतः असुंदर की श्रेणी में रखी गई चीजों में भी सौन्दर्य है और कई बार उतना ही, जितना सुंदर मानी जाने वाली वस्तुओं व विचारों में है। आम तौर पर हँसना अच्छा यानी सुंदर और रोना बुरा यानी असुंदर माना जाता है, अमीरी सुंदर और गरीबी असुंदर मानी जाती है, अहिंसा सुंदर और हिंसा असुंदर मानी जाती है। लेकिन वास्तविकता यह है कि किसी का गाना अच्छा नहीं लगता, पर किसी के आँसू भी सुंदर लगते हैं। कहीं अहिंसा कायरता-काहिलता-अमानवीयता और ब्लैकमेलिंग वाली लगती है तो कहीं हिंसा मनुष्यत्व का रक्षक तथा कानून की हिफाजत करने वाली साबित होती है। रामलीलाओं में रावण की हँसी अच्छी नहीं लगती, पर राम का रुदन अच्छा लगता है, ऐसा क्यों होता है और यहाँ सुंदरता का मानक क्या है? उत्तर सीधा है कि प्राकृतिक-नैसर्गिक और स्वाभाविक कार्य-कलाप सदैव सुन्दर होते हैं। बनावटी हँसी अच्छी नहीं लगती, पर स्वाभाविक चिंतित चेहरा अच्छा लगता है। कृत्रिमता स्वाभाविकता की विनाशिका होती है, 'स्वाभाविकता' में सौन्दर्य है, लेकिन यह स्वाभाविकता भी असुंदर, उद्दण्ड, अटपटी हो सकती है और बहुधा होती भी है। आजकल वाणी का सौन्दर्य हो या लेखन का, अथवा शरीर का सौन्दर्य हो या विचार का, राजनीति का हो या धर्म का, उसका मूलाधार कृत्रिम बनावटी ही अधिक है। कृत्रिमता आज की सौन्दर्य-चेतना का जरूरी उपक्रम है, इसलिए वास्तविक सौन्दर्य सिरे से गायब है, चेतना को झंकृत कर आह्लादित करनेवाला सौन्दर्य मुश्किल में है। लेकिन इस कृत्रिमता का महत्त्व भी है। वर्तमान 'कॉस्मेटिक क्रांति' का जमाना है, बाल उगाए जा सकते हैं, नाक बड़ी की जा सकती है, ऊँचाई बढ़ाई जा सकती है, लेकिन इस कृत्रिमता का कुछ महत्त्व भी तभी है, जब वे स्वाभाविकता, नैसर्गिकता की दिशा में हों। इसीलिए कहीं रसोई घर को देखकर खाने का मन नहीं करता, तो कहीं बाथरूम में बैठकर अखबार पढ़ने का आनंद लिया जा सकता है।

सौन्दर्य के बारे में बहुत कुछ जान कर भी ऐसा लगता है कि सौन्दर्य में ऐसा कुछ है जो सबको अच्छा लगता है, पर व्यक्त नहीं होता। यह सुख, संतोष और आनंद प्रदान करता है। इसमें एक ऐसी गहरी तृप्ति होती है, जिसका एहसास तो किया जा सकता है; परंतु व्यक्त नहीं किया जा सकता। चरम सौन्दर्य की अनुभूति में मन की विकृतियाँ, क्लेश, तनाव सब मिट जाते हैं और सात्त्विक भावों का उदय होता है, लेकिन इसके लिए आवश्यक है कि वस्तु के सौन्दर्य के प्रति व्यक्ति भावप्रवण हो। अमूमन हम सौन्दर्य को भी रूढ़ियों, परम्पराओं, सामाजिक मान्यताओं और लोक परिपाटियों के परिप्रेक्ष्य में ही देखते हैं। पूर्वाग्रह सौन्दर्य-दर्शन में अवरोध उत्पन्न करता है। कई बार पूर्व धारणाओं के कारण हमें वस्तु के वास्तविक स्वरूप का सही बोध नहीं होता। इसलिए सौन्दर्य अनुभूति व अभिव्यक्ति के लिए जितना भावप्रवण होना अनिवार्य है, उतना ही पूर्वाग्रह मुक्त होना भी जरूरी है।

सौन्दर्य केवल बाह्य रूप में प्रकट नहीं होता, वरन् आंतरिक रूप में अदृश्य भी रहता है। यही चेतना का सौन्दर्य है, मन-मानस की खूबसूरती, हृदय की निश्छलता, निष्कपटता का प्रभाव बाहरी स्तर पर दृष्टिगोचर होता है, या यों कहें कि बाहरी सौन्दर्य की पूर्णावस्था के लिए आंतरिक सौन्दर्य का होना आवश्यक है, अर्थात् अंदर की खूबसूरती ही बाहरी सुन्दरता का रूप धारण करती है। भीतरी सुंदरता के अभाव में व्यक्ति बाहर से कितना ही 'सुंदर' क्यों न हो, वह असुंदर ही माना जाएगा। यह सही है कि बाह्य सुंदरता को देखकर ही हम किसी की ओर आकृष्ट होते हैं। जब कोई बाहर से आकर्षित करता है, तभी हम उसके आंतरिक सौंदर्य को देखने की ओर आगे बढ़ते हैं, यानी आंतरिक सौन्दर्य तक मार्ग प्रशस्त करने की राह साधारणतः बाह्य सौन्दर्य से होकर गुजरती है।

अंदर का खुशी-आनंद बाहरी भावों, शरीर-भाषा और

मानसिक-शारीरिक सौन्दर्य पर जो प्रभाव डालता है, उससे एक विशेष प्रकार की दिव्यता व भव्यता मिलती है और इसके लिए कोई खास समय, पोशाक, रहन-सहन की जरूरत नहीं होती। सामान्यतः माना जाता है कि सौन्दर्य यौवन की विशेषता है; परंतु सौन्दर्य बालक का तो होता ही है, बूढ़े का भी होता है। बुढ़ापा का भी अपना सौन्दर्य है। सौन्दर्य सब जगह है, शारीरिक रूप-रंग, सौष्ठव, विचार, भाषा और जवानी तक ही सीमित नहीं है और जरूरी नहीं कि यहाँ हो ही। अमूमन ऐसा भी होता है कि जवानी के साथ जिस उमंग-उत्साह, दिशा-दृष्टि की जरूरत होती है, वह नौजवानों में गायब रहता है, दूसरी ओर कहीं जेपी जैसा बुढ़ापा और उसका अनुभव भी सुंदर होता है। दुष्यंत कुमार के शब्दों में,

एक बूढ़ा आदमी है, मुल्क में या यों कहो
इस अँधेरी कोठरी में एक रोशनदान है।

जहाँ जो जिस अवस्था में है, उसी अवस्था की चरम स्थिति सौन्दर्य है। इसीलिए यदि बच्चे के जन्म लेने की खुशी व आनंद का सौन्दर्य है, तो मृत्यु का भी अपना सौन्दर्य है, तभी मंसूर 'मरने ही ते पाइए पूरन परमानंद' कहते हैं, तो महादेवी वर्मा ने 'आज मरण का दूत तुम्हें छू मेरा पाहुन प्राण बन गया' कहकर मृत्यु के सौन्दर्य को व्यक्त किया है।

सौन्दर्य के लिए समानुपातिक सामंजस्य जरूरी है। यही उचित संतुलन का भाव सौन्दर्य को परिपूर्ण बनाता है। यह परिपूर्णता ऐसी होती है कि व्यक्ति कभी इससे अघाता नहीं, तृप्त नहीं होता। लेकिन ऐसा वहाँ भी होता है, जहाँ कुछ कामनाएँ होती हैं। जैसे काम-वासना का चाहे जितना भोग किया जाए, उससे तृप्ति नहीं मिलती, बल्कि प्यास और बढ़ती है, ठीक उसी प्रकार सौन्दर्य का भी हाल है। यद्यपि फ्रायड ने सौन्दर्य का सीधा संदर्भ कामेच्छा से माना है, तथापि सौन्दर्य यहीं तक ही सीमित नहीं है। यह एक विराट व उदात्त भाव है जिसमें लौकिकता और ऐन्द्रियता भी है और अलौकिक दिव्यता भी। जिस प्रकार विशुद्ध भोग्य व्यक्ति-वस्तु से तृप्ति की पूर्णता नहीं होती, उसी प्रकार दिव्य भावों से भी पूर्ण परितृप्ति प्राप्त कर आदमी कभी ऊबता-अघाता नहीं। जो अघा कर संतुष्ट हो जाता है, वह इस विशेष रस-आनंद को नहीं जान पाता, 'रामचरित ने सुनत अघाहीं, रस विशेष जाना तिन नाहिं।' अर्थात् भक्ति जैसे उदात्त भाव में जो सौन्दर्यानुभूति होती है, उसमें बारंबारता का कोई मूल्य नहीं। यही कारण है कि रामकथा सामान्यतः वही है, जो हजारों हजार साल से प्रचलित है, जिसे सब लोग जानते हैं, फिर भी उसी राम कथा को सुनने-कहने वालों की कथा चलती रहती है और लाखों की भीड़ उसी रामकथा में नये रस का पान करती है। यही भक्ति की दीप्ति का सौन्दर्य है। इसलिए जोर देकर बताया गया है कि जो पल-पल नएपन का, ताजगी का आभास कराए, वही सौन्दर्य है, दर्शन की प्यास कभी बुझे नहीं, 'अँखिया हरि दर्शन की प्यासी।' हिन्दी कवि घनानंद भी कहते हैं, 'रावरे रूप की रीति अनूप नयौ-नयौ लागत जेते निहारिये' अर्थात् ईश्वर के रूप की भी रीति-नीति अद्भुत और विचित्र है, जितना देखा-सुना जाता है, उतना ही सौन्दर्य के नएपन के साथ दिखता है और आँखें तृप्त नहीं होतीं और कान तृप्त नहीं होते। जयशंकर प्रसाद की नजर में 'प्रकृति के यौवन का शृंगार करेंगे कभी न बासी फूल' यानी ताजगी ही सौन्दर्य की असली निशानी है। इसलिए किसी भी वस्तु, पदार्थ, व्यक्ति, विचार, भाव, भाषा में सौन्दर्य सृजन के लिए ताजगी का होना और इसके लिए नए प्रयोगों का होना आवश्यक है, अन्यथा एकरसता उसके सौन्दर्य को खा जाएगी। इसीलिए सौन्दर्य की एक विशेषता विविधता में समन्विति भी है। पूर्व प्रधानमंत्री अटल बिहारी वाजपेयी का भाषण भी इसलिए बढ़िया होता रहा, क्योंकि उसमें सभी रसों का परिपाक, हास्य-व्यंग्य से लेकर गंभीर विचार तक होता था। यही सर्वांगता सौन्दर्य की सीमा बढ़ा कर पूर्णता की ओर ले जाने में सक्षम होती है।

सौन्दर्य का सर्वत्र दर्शन समदर्शी ही कर सकता है। पर उसे भी सुंदरता की मात्रा के आधार पर फर्क करना ही पड़ता है। जैसे पूर्ण और अंतिम सत्य का पता पाना दुष्कर है, वैसे ही सौन्दर्य की चरम व पूर्ण सत्ता की कल्पना मुश्किल है। कहीं शारीरिक सौन्दर्य है, तो कहीं चरित्र का सौन्दर्य, कहीं ज्ञान का सौन्दर्य है तो कहीं कर्म का सौन्दर्य, कहीं पद-प्रतिष्ठा का सौन्दर्य है तो कहीं धन-वैभव का, पर सब कुछ एक जगह नहीं है और जहाँ एक भी है वहाँ क्या वह वास्तविक सौन्दर्य रूप में है? क्या 'ज्ञानी' के पास वास्तविक रूप में ज्ञान का सौन्दर्य है और 'कार्मिक' के पास वास्तव में कर्म का सौन्दर्य? सामान्यतः उत्तर नहीं में है। सौन्दर्य के लिए ज्ञान, कर्म, शरीर के अलग-अलग मानक रहे हैं। एक जगह जो सौन्दर्य है, वही समय, परिस्थिति, देश के अनुसार दूसरी जगह सुंदर नहीं ठहरता। मान लीजिए किसी के पास अद्भुत वक्तृत्व कला है, पर व्यवहार विकृत, तो उसकी वाणी भी व्यवहार के अभाव में असुंदर ही होगी। इसी प्रकार लेखन अच्छा हो, पर व्यवहार विपरीत, तो इन्हें लेखन की सुंदरता और व्यवहार की असुंदरता कहने मात्र से काम नहीं चलेगा। अंततः व्यावहारिक विपरीतता के कारण यह लेखन भी सौन्दर्यहीन ही माना जाएगा और जहाँ ऐसी किसी भी प्रकार की सौन्दर्यहीनता होगी, वहाँ उसका प्रभाव नगण्य होगा।

सौन्दर्य की अनुभूति आनंददायक होती है

❑ मृदुला सिन्हा

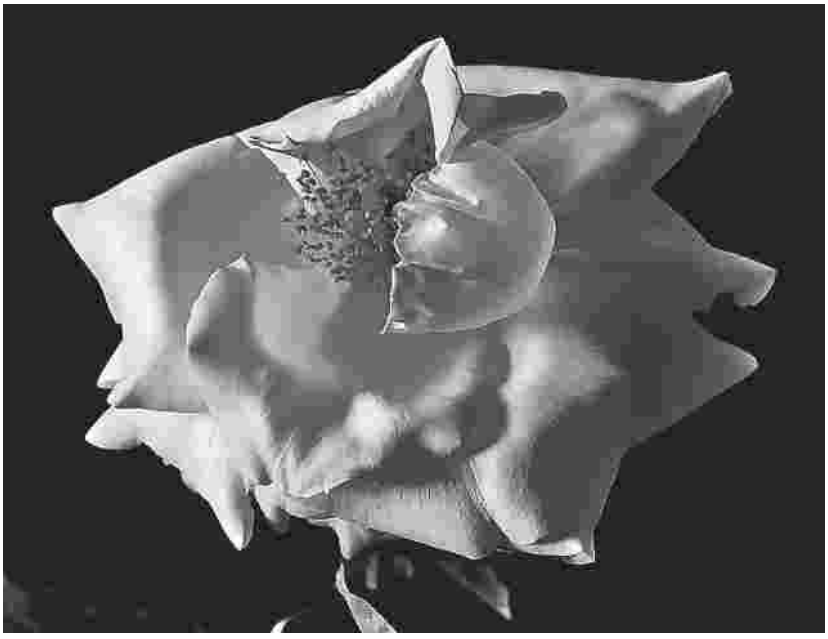

हमारी पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। पाँचों के काम अलग-अलग हैं, पर प्रत्यय और प्रत्यक्षीकरण एक होता है। किसी भी दृश्य, श्रव्य, गंध, स्पर्श और स्वाद के लिए एक प्रत्यय ही यथेष्ट होता है। उस प्रत्यय के उपस्थित होते ही पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ सक्रिय हो जाती हैं। पाँचों की सक्रियता से मस्तिष्क उस प्रत्यय की पहचान सुनिश्चित करता है। उदाहरण के लिए गुलाब को लें। बगीचे या गमले में गुलाब सामने आते ही आँखें देखती हैं, कान सुनते हैं, नासिका गंध लेती है, त्वचा से उसका स्पर्श होता है और जिह्वा पर स्वाद तैर जाता है। इन पाँचों ज्ञानेन्द्रियों की सक्रियता से मस्तिष्क उस प्रत्यय का प्रत्यक्षीकरण करता है। ज्ञान की पुष्टि होती है कि वह बगीचे में खिला फूल गुलाब है, उसका रंग लाल है, उसकी पंखुरियाँ कोमल-कोमल हैं। वह सुगंधित है और उसका अपना स्वाद भी है। कुल मिलाकर वह फूल सौन्दर्य की अनुभूति दे गया। हमने सुन और पढ़ रखा है कि गुलाब सौन्दर्य का प्रतीक है। इसलिए पूर्व ज्ञान से भी उसकी पहचान की पुष्टि हो गई। गुलाब के सौन्दर्य का ज्ञान निजी नहीं रहा। यह बहुअनुभूत ज्ञान है कि गुलाब असुन्दर नहीं लगता। यदि किसी व्यक्ति को ऐसा लगा भी तो वह अपनी प्रतिक्रिया नहीं व्यक्त कर सकता। यदि किसी ने गुलाब को असुन्दर कह दिया तो उस पर कोई विश्वास नहीं करेगा, क्योंकि यह सर्वश्रुत, सर्वअनुभूत और सर्वमान्य सत्य है कि गुलाब सौन्दर्य का प्रतीक है। गुलाब के सौन्दर्य का प्रत्यक्षीकरण यद्यपि आँखों से ही होता है, पर उसकी सुगंध, कोमल स्पर्श और मिठास का ज्ञान नासिका, त्वचा और जिह्वा के सहयोग से ही मिलता है। जिह्वा उसका स्वाद नहीं लेती। पर उसके सौन्दर्य के साक्षी तीन ज्ञानेन्द्रियाँ आँख, नाक और त्वचा मिलकर ऐसा ज्ञान देते हैं जिससे उसका मीठा स्वाद ही मन पर तैर जाता है।

'गुलाब सुन्दर है' सत्य की स्थापना पाँचों ज्ञानेन्द्रियों की मिली जुली संवेदना से ही हुआ। यह प्रस्थापित है कि जो सत्य है वह शिव भी है और जो शिव (कल्याणकारी) है, वही सुन्दर भी है। माँ और संतान के संबंध से इन तीनों के शाश्वत संबंध को जाँचा-परखा जा सकता है। माँ की ममता और संतान के प्रति उसका भाव शाश्वत है। इसलिए सत्य भी है। इस सत्यता पर

किसी के मन में शंका नहीं उत्पन्न होती है। यह सार्वभौम भी है। उस ममता में देश काल, पात्र के अनुसार विशेष भेद नहीं होता। ममता सदा शिव अर्थात् कल्याणकारी होती है। ममता मात्र अपनी संतान तक सीमित नहीं रहती। 'ममता जब विस्तार लेती है, सागर को भी आँचल में समा लेती है।'

निश्चित है कि ममता के विस्तार से किया हुआ काम जनकल्याण के लिए ही होगा। कहा और सुना जाता है कि जनकल्याण में लगे साधु-संत या महान पुरुष, महिलाओं से ही ममता उधार ले लेते हैं। उनके हृदय में माँ की ममता जैसा भाव ही संचालित होता है तभी वे ''सर्वजनहिताय'' कार्य करते हैं। ममता के कारण दृष्टि में भेदभाव नहीं आता। युग, काल और शताब्दियों को जिया हुआ मातृत्व सत्य है और शिव भी। इसीलिए तो माँ की सूरत पर किसी का ध्यान नहीं जाता। वह सुन्दर ही होती है। माँ का सौन्दर्य भी कालजयी और समयनिरपेक्ष है। माँ ने यह भाव और सौन्दर्य अपनी ममता की लागत लगाकर ही अर्जित किया है। मातृत्व नैसर्गिक भाव है। सांसारिक नहीं। इसलिए स्वच्छ और निर्मल है।

सौन्दर्य की अनुभूति मन को शीतल कर जाती है। राग द्वेष से परे हो जाता है मन। उस सौन्दर्य का अपना स्वाद होता है। हम मानें न मानें, सौन्दर्य सुगंधित ही होता है। तभी तो हम उसकी ओर खींचे चले जाते हैं। मन तृप्त हो जाता है। प्रकृति में जितने भी दृश्य और श्रव्य प्रत्यय हैं, वे सुन्दर ही हैं। उनकी सुन्दरता को देखने की नजर चाहिए। कभी-कभी एक ही प्रत्यय सामने रहने पर दो व्यक्तियों के प्रत्यक्षीकरण में अंतर आ जाता है। उसका कारण उस समय उन दोनों की मनःस्थिति में भिन्नता होती है। कहा जाता है न-''मन चंगा तो कठौती में गंगा।''

किसी वस्तु या व्यक्ति में सौन्दर्य देखना द्रष्टा की अनुभूति पर भी निर्भर करता है। सौन्दर्य की पहचान सबको नहीं होती। मात्र रूप का सौन्दर्य नहीं होता। जहाँ तक मनुष्य के सौन्दर्य का प्रश्न है, उसका सौन्दर्य उसकी वाणी और व्यवहार से भी निर्धारित होता है। कुरूप व्यक्ति के साथ रहकर यदि उसकी वाणी में मधुरता और व्यवहार में सौहार्द है तो दूसरा व्यक्ति उसकी ओर खींचा चला जाता है। उस कुरूप स्त्री या पुरुष के साथ बैठे उसे देखते रहने का मन करता है। इस खिंचाव का कारण है आंतरिक सौन्दर्य।

किसी के आंतरिक सौंदर्य को देखने, स्पर्श करने और स्वाद लेने के लिए द्रष्टा का अंतर्मन भी सौन्दर्ययुक्त होना चाहिए। निर्मल होना चाहिए मन। निर्मल मन में ही सही सौंदर्य की परछाईं पड़ती है। सौन्दर्य मांगलिक होता है। जिसके दर्शन करने, छूने, सुगंध लेने, वाणी सुनने तथा उसे स्मरण करने से मन प्रसन्न हो, उससे उसका मंगल ही हुआ। शरीर, मन, बुद्धि और आत्मा का समुच्चय है व्यक्ति। शाश्वत सौन्दर्य की अनुभूति देने के लिए उसका शरीर, मन और बुद्धि भी सुन्दर होनी चाहिए। तीनों के मिले-जुले सौन्दर्य की अनुभूति आत्मिक सौन्दर्य से मिलता है।

सौन्दर्य की अनुभूति आनंददायक होती है, पर यदि स्वयं व्यक्ति को अपने सौन्दर्य का भान हो जाए तो अहंकार आने की संभावनाएँ बढ़ जाती हैं। अपने सौन्दर्य के प्रति अहंकार होने पर बात व्यवहार बदल जाता है। फिर तो देखने वालों की आँखों में भी उसका सौन्दर्य खटकने लगता है। किसी का शरीर सौष्ठव दर्शनीय हो और उसे स्वयं उसकी अनुभूति न हो, बिरले ही होता है। यदि ऐसा है तो सोने में सुहागा। उसका शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक सौन्दर्य दूसरों को सुख देता है। मानव जाति में अपने सौन्दर्य के प्रति अहंकार होने और उससे उसका व्यवहार प्रभावित होने के कारण ही हम प्राकृतिक सौन्दर्य की ओर भागते हैं। यूँ तो प्रकृति सुन्दर ही होती है। वृक्षों पर बौर का आना, उसकी सुगंध से मन का बाग-बाग हो जाना, आम या मौलश्री की घनी डालियों के बीच छुपकर कोयल का बैठना, कुहू-कुहू करना सब सौन्दर्यमय स्थितियाँ हैं। वायु की शीतलता, जल की मिठास, चिड़ियों की चहचहाहट, मीठे फलों के स्वाद कोमल पत्तियों और फूलों का स्पर्श सब तो सौन्दर्यमय हैं। जल से भरी नदी, फल से भरा वृक्ष और फसल से भरा खेत आनंद ही देता है। आनंद देने वाली हर वस्तु, स्थिति और विचार, सुन्दर ही है।

(लेखिका भारतीय जनता पार्टी की पूर्व राष्ट्रीय उपाध्यक्ष, केन्द्रीय समाज कल्याण बोर्ड की पूर्व अध्यक्ष एवं 'पाँचवाँ स्तंभ' मासिक पत्रिका की संपादिका हैं)

सौन्दर्य की अनुभूति मन को शीतल कर जाती है। राग द्वेष से परे हो जाता है मन। उस सौन्दर्य का अपना स्वाद होता है। हम मानें न मानें, सौन्दर्य सुगंधित ही होता है। तभी तो हम उसकी ओर खींचे चले जाते हैं। मन तृप्त हो जाता है। प्रकृति में जितने भी दृश्य और श्रव्य प्रत्यय हैं, वे सुन्दर ही हैं। उनकी सुन्दरता को देखने की नजर चाहिए। कभी-कभी एक ही प्रत्यय सामने रहने पर दो व्यक्तियों के प्रत्यक्षीकरण में अंतर आ जाता है। उसका कारण उस समय उन दोनों की मनःस्थिति में भिन्नता होती है। कहा जाता है न-''मन चंगा तो कठौती में गंगा।''

अब जमाने को खबर कर दो कि नीरज गा रहा है

❒ विजय बहादुर सिंह

वह इलाहाबाद के बच्चन की मधुशाला का समय था जब कानपुर के नीरज प्राणगीत वाली अपनी आक्रामक तेजस्वी कविताएँ हिन्दुस्तानी में लेकर आए। भारतीय गणतंत्र का वह पहला दशक था जब प्रधानमंत्री जवाहर लाल नेहरू का कार्यकाल और नीरज की जुबान गुस्से और आक्रामकता से भरी हुई थी। बच्चन कविता की जिस जमीन पर काम कर रहे थे, उसका एक रिश्ता फारसी और अंग्रेजी से भी था। फिर भी अपनी अभिव्यक्तियों में वे खड़ी बोली हिन्दी के मुहावरों को कहीं ज्यादा व्यक्त करते रहे। इलाहाबाद का एक दर्शन भी वे लेकर आए ही। सन् 1930 के आस-पास अपनी काव्य-यात्रा की शुरुआत करने वाले बच्चन में स्वभावतः उन दिनों के देशी नौजवानों की मस्ती, उन्मुक्तता और दीवानगी का सौन्दर्य ही नहीं, धर्म, जाति और संप्रदाय के क्षुद्र और संकीर्ण दायरों को तोड़ देने का संदेश और आवाहन भी खूब था। यह बात मानी जाने लायक नहीं लगती कि बच्चन व्यक्तिवादी कवि हैं, क्योंकि उनकी मधुशाला की ये अमर पंक्तियाँ हमारे भीतर अब भी अमिट हैं,'लड़वाते हैं मंदिर-मस्जिद मेल कराती मधुशाला।'

कविता की यह वह भाषा थी जो 1930 के आस-पास शुरू होने वाले गैर छायावादियों ने 'जिस तरह हम बोलते हैं, उसी तरह तू लिख' कहकर अपनाया था। इस पंक्ति के स्रष्टा भवानी प्रसाद मिश्र ने इसे 1930 में ही लिखा था। छायावाद के बाद कविता की भाषा जिस तरह अपने दिव्य आसमानी लिबास उतार आम आदमी की बोलचाल के निकट आ खड़ी हो रही थी, यदि वही निरंतर आत्म संशोधन, आत्म परिष्कार और आत्मविकास करती रहती तो कभी भी उस लोक-समाज से दूर नहीं जाती जो उसे आज अपने अनुभवों की भाषा ही नहीं मानता। शुरुआती प्रगतिवाद और 'तार सप्तक प्रसूत' प्रयोगवाद की प्रेरणा-भूमियाँ इस दृष्टि से विचारणीय हैं।

सन् 1935-36 में आए प्रगतिवाद और 1943-44 में आए तार-सप्तक प्रसूत प्रयोगवाद पर आज पुनर्विचार करें तो इस नतीजे पर पहुँचना सहज ही होगा कि ये सब विदेशी कलमें थीं जो एक भिन्न प्रकार का लोकधर्म प्रचारित कर रही थीं। इनका वास्ता उस व्यापक राष्ट्रीय जीवनानुभव से था ही नहीं, जिसे मैथिलीशरण गुप्त, रामनरेश त्रिपाठी, जयशंकर प्रसाद और निराला जैसे युगान्तरकारी कवि नए सिरे से सचेत जिम्मेदारी से रच रहे थे। कविवर निराला ने अपनी तीखी प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए इसे ठीक ही पकड़ा, 'यहाँ एक ऐसा दल है, जो उच्च शिक्षित है। शायद सोश्यलिस्ट भी। इसके कुछ लोग यूरोप भी हो आए हैं। स्त्री और पुरुष, हिन्दू और मुसलमान दोनों। उन्होंने प्रोग्रेसिव राइटर्स मीटिंग या एसोशियशन नाम की संस्था कायम की है। ये उच्च शिक्षित जन कुछ लिखते भी हैं, उसमें मुझे संशय है। शायद इसीलिए लिखने का एक नया आविष्कार इन्होंने किया है और वह इनमें जोर पकड़ता जा रहा है। कुछ पंडित जवाहरलाल जी से काफी मिलते जुलते हैं और देश के उद्धार के लिए कटिबद्ध हैं।'

निराला द्वारा 20.11.36 को तत्कालीन युवा आलोचक रामविलास शर्मा को लिखे इस पत्र में जो अंतिम वाक्यांश है, उसमें कवि का व्यंग्यात्मक आक्रमण अनुभव किया जा सकता है। कविवर निराला जिसे लिखने का नया आविष्कार कह रहे हैं, उसके स्रोत भी पश्चिमी हैं, प्रयोगवादियों के भी तो थे। इसी तरह प्रसाद और निराला के मित्र आचार्य नन्द दुलारे वाजपेयी ने 'तार-सप्तक' की कविताओं को नये कलावाद का अवतरण कहते हुए यह पंक्ति भी लिखी, 'हिन्दी कविता अपनी रचनात्मक दिशा का इतनी शीघ्रता से परित्याग कर दिग्भ्रान्त क्यों होती जा रही है। प्रयोक्ताओं को क्या पड़ी है कि वे हिन्दी की इस नवनिर्मित (अर्थात् सांस्कृतिक काव्योत्थान वाली छायावादी धारा और उसके बाद आने वाले बच्चन, दिनकर आदि), परंपरा का मूलोच्छेद कर एकदम एक नया वैशिष्ट्य प्राप्त कर लेना चाहते हैं।' वाजपेयी जी आगे लिखते हैं, 'संभव है मध्यवर्ग की सांस्कृतिक सत्ता के समाप्त होते- नए निर्माण में उस सत्ता की रंचमात्र भी उपयोगिता न रह जाने का इजहार किया जा रहा हो, पर प्रश्न यह है कि शून्य का स्तवन करने वाली काव्य-सृष्टि किस वर्ग का कल्याण करने का उद्देश्य रखती है?' वाजपेयी जी आगे एक और सवाल खड़ा करते हैं, 'आज की समीक्षा का

प्रमुख उत्तरदायित्व यह है कि वह हिन्दी साहित्य जो वादों का राग अलापने पर उतर पड़ा है, इन दोनों अर्थात् काव्य और वाद का पृथक्करण करके काव्य की अपनी सत्ता को पूर्ण प्रतिष्ठा की जाए। ...हिन्दी के समस्त कलाकार और प्रयोगवादी कलाकार भी उनमें सम्मिलित हैं, यदि सब कुछ छोड़कर केवल एक बात में एकमत हो जाएँ, यदि वे केवल इतना मान लें कि वे हिन्दी- साहित्य के कवि और कलाकार हैं और उनका कार्य हिन्दी की काव्य-सृष्टि की रक्षा और विकास करना है, तो दूसरे समस्त प्रश्न आसानी से हल हो जाएँगे और तब हिन्दी कविता और प्रयोगवादी कविता अपने अस्तित्व के लिए परमुखापेक्षिणी न रहेगी, वह अपने पैरों पर खड़ी हो सकेगी।'

बच्चन और दिनकर के बाद कविता के लोकमंच पर उतरने वाले नीरज जिस तरह का तेवर लेकर आए थे, उसने प्रगतिशील आलोचकों को भी आकृष्ट किया। राम विलास शर्मा से लेकर शिव कुमार मिश्र जैसे शोधकर्त्ताओ ने नीरज की कविताओं को जागरणकारी और जनधर्मी माना। नीरज की कविताएँ ऐसी थीं भी। 'नया हिन्दी काव्य' के आलोचक डॉ. शिव कुमार मिश्र के अनुसार 1951 में छपकर आने वाले उनके तीसरे काव्य-संग्रह 'विभावरी' में कवि की सामाजिक चेतना की प्रशस्त भूमियाँ सुस्पष्ट दिखाई देती हैं। 1953 में आनेवाले उनके संग्रह 'प्राणगीत' में नीरज की एक और मानसिकता सामने आती है जो उसके पुराने क्षयशील संस्कारों को पीछे फेंक व्यापक जीवन-संघर्ष और प्रतिरोध का तूफान-सा उठाना नहीं चाहती, उसकी अगुवाई भी करना चाहती है। प्राणगीत-एक और प्राणगीत-दो की कई कविताओं को पढ़ते हुए जिस कवि नीरज से हमारा सामना होता है, वह उसकी इन पंक्तियों में मौजूद है,

बत्तमीजी कर रहे हैं आज फिर भौंरे चमन में
साथियो! आँधी उठाने का जमाना आ गया है।

ये ही दिन थे जब नीरज रुबाइयों में भी यही लिख रहे थे,

तन की हवस मन को गुनहगार बना देती है
बाग के बाग को बीमार बना देती है।
भूखे पेटों को देशभक्ति सिखाने वालो
भूख इंसान को गद्दार बना देती है।।

दोनों ही उद्धरणों में एक तरफ राष्ट्रीय परिवेश में व्याप्त गरीबी और भुखमरी तो दूसरी ओर सामाजिक और राष्ट्रीय जीवन में नेताओं और नौकरशाहों द्वारा की जा रहीं शर्मनाक हरकतें कवि को इतनी खल रही हैं कि वह संघर्ष में विश्वास करने वाले साथियों से आँधी उठाने का प्रस्ताव कर रहा है। दोनों ही कविताओं में कवि के शब्दों का चयन मिला-जुला है और दोनों ही हिन्दुस्तानी भाषा और उसके छंद-संगीत से गमक रही हैं। छठवें दशक के नीरज अगर कुछ थे तो यही थे। प्रेम, प्रणय, निराशा और मृत्यु से अपने गीतों की शुरुआत करने वाले कवि का यह एक नया और क्रांतिकारी प्रस्थान था। याद करें तो वह स्वतंत्र भारत के पहले निर्वाचन के आस-पास का समय है। नेहरू प्रधानमंत्री थे। भारत में समाजवाद के भगीरथ माने जाने वाले नेहरू का शासन काल। तब भी कवि के अनुभवों की निगाह बहलायी और फुसलाई नहीं जा सकी है। एक और बात जो कवि नीरज के भाषा-प्रयोगों से समझी जा सकती है कि वह हिन्दी-उर्दू की स्वाभाविक बोलचाल और मुहावरे से गसी हुई है। वह एक अर्थ में पुरानी या परंपरागत है कि उसमें पहले से चले आ रहे शब्दों और उनकी लोकसम्मत अर्थवत्ता को सुरक्षित रखा जा सका है। उदाहरण के लिए नीरज की एक रुबाई की यह पंक्ति है, 'हर धुली चादर गुनाहों की कमाई है।'

कबीर की सर्वजयी कालातिक्रमणकारी पंक्ति है, 'दास कबीर जतन से ओढ़ी ज्यों की त्यों धर दीन्हीं चदरिया।' झीनी झीनी बीनी चदरिया तो अपनी जगह है ही। पुराने और अतिप्रतिष्ठित शब्दों को नये जीवन के यथार्थ अनुभवों में लपेट कर नया चेहरा-मोहरा और

सड़क, बाजार, चौराहे, घर-गाँव की चलती-फिरती भाषा में जो लोच, गति और सम्प्रेषणीयता होती है, वह उस ड्राइंगरूमी जुबान में नहीं होती, जिसका एकमात्र प्रयोजन शिष्टता का प्रदर्शन हुआ करता है। बड़ी-बड़ी कंपनियों के स्वागत-प्रकोष्ठों में टेलीफोन के साथ बैठी आधुनिकाओं की रमणीयता काफी भ्रम पैदा करती है। थोड़ी देर के लिए हम उनकी भाषा के बहकावे में आ जाते हैं पर हमारे प्रयोजनों की सिद्धि तो उससे नहीं होती। वह भी एक प्रकार से सूक्ष्म विज्ञापन की ही भाषा होती है जो अतिरेक और अस्वाभाविक ही कही जाएगी। असली भाषा तो जीवन के व्यावहारिक प्रसंगों और उनसे जन्म लेते अनुभवों से दमकती, महकती और कभी-कभी दहकती और धधकती भी रहती है।

नयी पहचान देना, यह भी समर्थ कवि का काम है। नीरज यह काम करते रहे हैं, इसे बेधड़क कहा जा सकता है।

सड़क, बाजार, चौराहे, घर-गाँव की चलती-फिरती भाषा में जो लोच, गति और सम्प्रेषणीयता होती है, वह उस ड्राइंगरूमी जुबान में नहीं होती, जिसका एकमात्र प्रयोजन शिष्टता का प्रदर्शन हुआ करता है। बड़ी-बड़ी कंपनियों के स्वागत-प्रकोष्ठों में टेलीफोन के साथ बैठी आधुनिकाओं की रमणीयता काफी भ्रम पैदा करती है। थोड़ी देर के लिए हम उनकी भाषा के बहकावे में आ जाते हैं पर हमारे प्रयोजनों की सिद्धि तो उससे नहीं होती। वह भी एक प्रकार से सूक्ष्म विज्ञापन की ही भाषा होती है जो अतिरेक और अस्वाभाविक ही कही जाएगी। असली भाषा तो जीवन के व्यावहारिक प्रसंगों और उनसे जन्म लेते अनुभवों से दमकती, महकती और कभी-कभी दहकती और धधकती भी रहती है।

दुर्भाग्य से स्वयं को अति उच्च और पढ़ा-लिखा समझने वाला वर्ग आटे से कहीं अधिक भाषा को मैदे के रूप में प्रयुक्त करना चाहता है। सिर्फ इसलिए कि शेष समाज से उसकी विशिष्टता और अलगाव सूचित हो सके। पर ध्यान दें तो 'राम की शक्ति पूजा' वाले निराला ही 'कुकुरमुत्ता' वाली भाषा पर आते हैं। जब वे 'नये पत्ते' कविताएँ लिखते हैं या फिर कजली लिखते हैं तो उनकी भाषा लोक प्रयोगों के निकट आ खड़ी होती है। कबीर जैसे बड़े कवियों में तो लोक-प्रयोगों की भरमार है। हमारे अपने जमाने में परम संस्कृतज्ञ नागार्जुन यह सामर्थ्य दिखाते हैं। कबीर ने ठीक कहा, संस्कीरत कूप जल भाखा बहता नीर। यद्यपि लोक में कूप जल की भी अप्रतिष्ठा नहीं है, तब भी वह उस निरंतर प्रवाहित नीर का मुकाबला नहीं कर सकता। जीवन-प्रवाह के अनेक रूपी उतार-चढ़ावों से पाया जाने वाला शब्द, अभिजातों के संघर्ष-शून्य जीवन से कहीं अधिक ऊष्मावान और तेजस्वी होगा।

नीरज ने अपने गीतों में जिस शब्द-संसार को जगह दी है, वे चिकने-चुपड़े, कथित तौर पर विचारशील संघर्ष-विमुख मध्यवर्ग के शब्द नहीं हैं। वे आम-फहम भाषा-संसार से सीधे चलकर, कहें पैदल-पैदल चलकर आने वाले शब्द हैं,

मैं सोच रहा हूँ अगर तीसरा युद्ध छिड़ा
इस नई सुबह की नई फसल का क्या होगा,
मैं सोच रहा हूँ गर जमीन पर उगा खून
मासूम हलों की चहल-पहल का क्या होगा।

भारत जैसे नए आजाद हुए देशों की स्वतंत्रता और नए जीवन की मासूम उम्मीदों के बीच कवि की यह चिंता उन सबको भी चिन्तित कर सकती है जो एक स्वतंत्र और खूबसूरत समाज का सपना सँजोए चल रहे हैं।

नीरज जैसे कवियों ने जिस समय कविता की यह राह पकड़ी, वह समय नई कविता का था। आलोचकों ने उसे नवलेखन काल कहा। पता नहीं नीरज उस संसार के प्रति क्यों नहीं आकृष्ट हुए। यह अतिशिक्षित विश्वविद्यालयीन आचार्यों और कथित तौर पर आधुनिकों का समाज था। साहित्य और कविता में नए प्रतिमानों को लाने वाला समाज। ये प्रतिमान कैसे थे, इनके आने से कविता के सामाजिक रिश्तों में क्या बदलाव आया, किन सौन्दर्य मूल्यों को उखाड़ कर कौन से दूसरे मूल्य रोपे गए, इन अनेक प्रश्नों में न जाकर कवि नीरज उन काव्य मंचों की तरफ चले गए जहाँ विशाल जनसमाज अपनी कविता को अपनी बोलचाल और मुहावरे में पाना चाहता था।

संभव है, हममें से कुछएक लोग यह समझते और मानते हों कि यह हृदयहीन समाज है, इसमें काव्य और कला की गहरी और बारीक समझों का अभाव है, सोचना तो खैर यह जानता ही नहीं। पर ऐसा वे ही सोच सकते हैं जो इस विशाल लोक समाज से अपरिचित हैं। यही वह समाज है जिसने अभी तक कबीर-तुलसी जैसों को अपनी स्मृतियों और संस्कारों में बसा रखा है। यही वह समाज भी है जिसकी जुबान पर आल्हा जैसा वीर और शृंगार रस से भरा काव्य चढ़ा हुआ है। इस रहस्य को केवल बच्चन जी नहीं, नीरज भी समझ सके थे। यह वह समाज भी है जिसके कान सुशिक्षित और हृदय विदग्धता से आप्लावित हैं। नीरज जैसे कवियों ने इस विशाल भारतीय समाज में पहुँचकर उस कविता को बचाए रखा जो किताबी होने की नियति से ग्रस्त होने जा रही थी। उन सामान्य भावों को भी जिनमें केवल शास्त्रीय यथार्थ और यथार्थानुभवों की नहीं, व्यापक और सार्वभौम जीवनानुभवों की ऊष्मा और ताप मौजूद था। निश्चय ही नीरज प्रेम, प्रणय और सौन्दर्य के गीत गाते सुने गए, मृत्यु और नश्वरता के प्रति भी उनका रुझान काफी प्रबल कहा जा सकता है पर यही सब तो जीवन का सहज, स्वाभाविक प्रवाह है। अपनी कविता में नीरज ने अगर प्रेम से अपनी आँखें चार कीं तो मृत्यु से भी वे दो-चार होते रहे। उनकी तो यह जीवन-घोषणा ही रही,

बस यही अपराध मैं हर बार करता हूँ,
आदमी हूँ आदमी को प्यार करता हूँ।

इस 'प्यार' में जितनी उम्मीदें, आकुलताएँ, सपने हैं, उतनी ही नाउम्मीदें, असफलताएँ और निराशाएँ भी हैं। नीरज ने ही लिखा,

सुख के साथी मिले हजारों ही लेकिन
दुख में साथ निभाने वाला नहीं मिला
मेला साथ दिखाने वाले मिले बहुत
सूनापन बहलाने वाला नहीं मिला।

इसी गीत में ये पंक्तियाँ भी हैं,

तन के तीर तैरने वाले मिले बहुत
मन के घाट नहाने वाला नहीं मिला।

इन पंक्तियों से उनके प्रेम की कल्पना और दर्शन को समझा जा सकता है। प्रेम सिर्फ मांसलता का मेला नहीं है, हृदय की गहराइयों में उतरने और पैठ जाने की कला भी है। सीधी-सादी भाषा में यह गहरी बात जिन आम-फहम बिम्बों में गूँथ कर प्रस्तुत की गई है, उससे उसका सस्तापन तो साबित नहीं होता। हाँ, कहने की सादगी और अर्थ की गहराई का अनुभव जरूर किया जा सकता है। फिर इस कहने में एक व्यापक अपील है। इसे वे सारे कथित उच्च शिक्षित, साहित्येतर बुद्धिवादी सामाजिक भी ग्रहण कर सकते हैं जिन्हें आधुनिक बुद्धिजीवी समुदायों में माना जाता है।

जीवन और मृत्यु के प्रश्नों को उठाने वाली उनकी प्रसिद्ध कविता-.'.. गुबार देखते रहे' से पहले मुझे उनके मुँह से कई बार यह एक कविता भी सुनने को मिली,

ऐसी क्या बात है चलता हूँ अभी चलता हूँ
गीत एक और जरा झूम के गा लूँ तो चलूँ

मृत्यु से चौतरफा घिरे व्यक्ति की यह जीवन-लालसा अद्वितीय और रोमांचक है। कभी मियाँ गालिब ने ऐसे ही वातावरण में यह शेर कहा था,

मुझे इस नतीजे पर पहुँचने में देर नहीं लगी कि 'मौत के करीब पहुँच चुके कवि' को मौत का भय उतना परेशान नहीं कर रहा है, जितना वह राजनीति कर रही है, जो ढेर सारे किसानों, भुखमरों और फटेहालों की मौत बनकर लोकतंत्र के नाम पर नंगा नाच नाच रही है। उस अच्छी, सुहानी सी शाम को कवि ने जिस तरह अपने काव्य-पाठ से हवा देना शुरू किया, उससे वहाँ जैसे कोई भट्ठी सी सुलगने लगी जो कालांतर में अपनी लपटें फेंकने पर उतारू हो उठी। इस आग में घी का काम अट्ठासी वर्ष के कवि के उस काव्य पाठ कौशल ने किया जिसमें शब्द उसकी साँसों की तड़प और गरमी से निरंतर तेजतर और आक्रामक होते जा रहे थे। उसके इस रूप को देख मैं यह विश्वास करने को मजबूर हो सका कि नीरज सचमुच जीवन और उसकी प्रचण्ड जिजीविषा की पुकार और आवाहन का कवि है।

गो हाथ में जुम्बिश नहीं आँखों में तो दम है
रहने दो अभी सागरो- मीना मेरे आगे

नीरज इस प्रबल लालसा और जिजीविषा के भी कवि हैं। किंतु वे इस सच से मुँह नहीं मोड़ते या कहना चाहिए आँखें नहीं चुराते कि जीवन अगर सुखद सच्चाई है तो मौत भी उसी सच्चाई का अनिवार्य पहलू है,

कफन बढ़ा तो किसलिए नजर कि डबडबा गई
सिंगार क्यों सहम गया बहार क्यों लजा गई
न जन्म कुछ न मृत्यु कुछ बस
इतनी सिर्फ बात है,
किसी की आँख खुल गई
किसी को नींद आ गई।

इस विश्व-बोध के सहज क्रम में ही नीरज उस सच की तरफ जाते हैं, जिसमें जिन्दगी का कारवाँ गुबार में तब्दील होता रहता है। उम्र के तमाम पड़ावों, जिन्दगी की तमाम रंगीन सीढ़ियों और मुस्कानों के पार का जो सच है, उसे देखना भी कवि का ही काम है। नीरज ने यह काम बखूबी किया है। इसीलिए वे एक कवि के रूप में हमें सिर्फ बहलाते या फुसलाते नहीं, उन नंगी सच्चाइयों के प्रति सचेत भी रखते हैं, जो स्वाभाविक तौर पर हमारे जन्मकाल से ही हमारे जीवन के साथ अनिवार्यतः नत्थी हैं।

नीरज जैसे कवियों की उपस्थिति से एक वह सेतु भी बनता है जो किसी भी तरह के जातिवादी, सांप्रदायिक-धार्मिक अथवा भाषाई बँटवारे के बीच की बनतीं खाइयों को नकारता है और एक ऐसे भाषा-साहित्य और समाज का नवनिर्माण करता है जिसमें इस देश की दो बड़ी अस्मिताएँ साथ-साथ सोचने और रहने के बारे में मिल-जुल कर भावात्मक हदबंदियों को दरकिनार कर सकें।

नीरज जैसे कवियों को सिर्फ खड़ीबोली हिन्दी का कवि नहीं, उस हिन्दुस्तानी का कवि कहना होगा जिसमें हिन्दुत्व और इस्लाम अपने-अपने खूबसूरत भावों के साथ गले मिलते हैं। खुद नीरज ऐसी कोई भाषायी हदें नहीं बाँधते कि हम उन्हें ठेठ और पवित्र हिन्दी का कवि कह सकें। उनके यहाँ मसजिद है तो मंदिर भी है, नमाज है तो प्रार्थना भी, बुलबुल है तो कोयल भी। वे या तो दोनों की खूबसूरत संधि रेखा पर खड़े हैं या फिर दोनों की ही अपनी-अपनी तकलीफ देह हदों को तोड़ते हैं।

आज इस पर भी सोचना पड़ेगा कि किन कारणों के चलते दुष्यंत नयी कविता की राह छोड़ 'साये में धूप' की गजलों की तरफ गए? क्यों अदम गोंडवी जैसे जन-कवि गजलों और छंदात्मक कविताओं के मार्फत अपनी जन-विरादरी को संबोधित करने में कविता के छंद और भाषा-संगीत को अधिक सार्थक और प्रभावकारी पाते रहे। यह भी कि अगर ये कवि छंद कौशल और काव्य-भाषा प्रवीण हुए तो क्या उस छंद-मुक्त कविता को नहीं लिख पाते जो आज बहुतेरे आभासी कवियों का काव्य-वक्तव्य बनी हुई है? नीरज और दुष्यंत जैसे कवियों ने यह भी कर दिखाया कि छंद-संगीत में अब भी जमाने की हकीकतों को बयान करने की ताकत है; किंतु यह अधिक प्रतिभा की भी माँग करता है।

पिछली 22 फरवरी, 2012 को जब प्रमुखतः भोपाल और अंशतः मध्य प्रदेश के काव्य रसिकों ने अट्ठासीवें वर्ष में प्रवेश कर चुके नीरज का सम्मान समारोह आयोजित किया तो अपने उत्तर में उन्होंने यह सार्वजनिक घोषणा की कि समय ही आत्मा है। यह भी कि बौद्ध दर्शन और सांख्य दर्शन से प्रभावित हैं। वे नहीं मानते कि ईश्वर नाम की कोई अन्य सत्ता है सिवाय प्रकृति-सत्ता के। यह सब काफी गंभीर और दमदार ढंग से कह चुकने के बाद जब वे काव्य-पाठ पर उतरे तो जो कविताएँ उन्होंने सुनाईं वे सब वर्तमान राजनीतिक परिदृश्य से जुड़ी हुई थीं। इनमें तमाम तरह की सत्ताओं द्वारा ध्वस्त किए जा रहे मानव-मूल्यों के विरूद्ध उनका नैसर्गिक कोप अपनी अपनी कौंध फेंक रहा था। उनकी इन कविताओं को सुनते हुए मैं यह सोच रहा था कि प्रेम, प्रणय, आशा-निराशा, मौत और गुबार में डूबने-उतरानेवाला यह कवि आम लोगों को पाकर कौन-सा जरूरी संवाद अपनी कविता के मार्फत करना चाह रहा है। मुझे इस नतीजे पर पहुँचने में देर नहीं लगी कि 'मौत के करीब पहुँच चुके कवि' को मौत का भय उतना परेशान नहीं कर रहा है, जितना वह राजनीति कर रही है, जो ढेर सारे किसानों, भुखमरों और फटेहालों की मौत बनकर लोकतंत्र के नाम पर नंगा नाच नाच रही है। उस अच्छी, सुहानी सी शाम को कवि ने जिस तरह अपने काव्य-पाठ से हवा देना शुरू किया, उससे वहाँ जैसे कोई भट्ठी सी सुलगने लगी जो कालांतर में अपनी लपटें फेंकने पर उतारू हो उठी। इस आग में घी का काम अट्ठासी वर्ष के कवि के उस काव्य पाठ कौशल ने किया जिसमें शब्द उसकी साँसों की तड़प और गरमी से निरंतर तेजतर और आक्रामक होते जा रहे थे। उसके इस रूप को देख मैं यह विश्वास करने को मजबूर हो सका कि नीरज सचमुच जीवन और उसकी प्रचण्ड जिजीविषा की पुकार और आवाहन का कवि है। उसका यह लिखना सच की इबारत ही है कि ...अब जमाने को खबर कर दो कि नीरज गा रहा है। ☆

(लेखक जाने-माने कवि और आलोचक हैं)